मनोविज्ञान

जनवरी १९५८



का विकास

प्रेम का अपने से अतिरिक्त न तो कोई कारण है और न कोई फल। प्रेम स्वयं ही अपना फल है। प्रेम ही एक ऐसी वस्तु है, जिसके द्वारा मनुष्य परमात्मा की सादृश्यता प्राप्त करता है।

र द.

काशी मनोविज्ञानशाला का मासिक

संपादक एवं प्रकाशक-श्री लालजीराल शुक्ल, ६१/१५ सिद्धगिरी, बनारस।
सहायक संपादक :—चन्द्रिका श्रीवास्तव
वार्षिक मूल्य ४)
श्रीराधाकान्त खण्डेलवाल द्वारा खण्डेलवाल प्रेस, काशी में मुद्रित।
मिलने का पता— सिद्धगिरी, बनारस।

जीवन-पहेली

संसार के विचारवान् लोगों में दो प्रकार के जीवन-दर्शन का प्रचलन है—एक प्रवृत्तिवादी है और दूसरा निवृत्तिवादी। पश्चिम में अधिकतर प्रवृत्तिवादी दर्शन को श्रेष्ठता दी गई है। इसी दर्शन के परिणाम-स्वरूप पाश्चात्य दर्शन की भौतिक उन्नति हुई। इंगलैंड का इन्डीभीजुलज्म, अमेरिका का प्रगमेटिज्म और रूस का कम्युनिज्म प्रवृत्तिवादी विचार-धाराओं के परिणाम हैं।

प्रवृत्तिवादी दर्शन से आधुनिक वैज्ञानिक उन्नति और अर्थशास्त्रीय विचार की वृद्धि हुई है। अर्थशास्त्र का कथन है कि मनुष्य की उन्नति उसकी इच्छाओं की वृद्धि से होती है। मनुष्य की इच्छाओं की जबतक वृद्धि नहीं होगी तबतक वह अनेक प्रकार की वस्तुओं को प्राप्ति करने की चेष्टा न करेगा और जब उसमें अनेक प्रकार की वस्तुओं के प्राप्त की प्रेरणा न होगी, तो सभ्यता का विकास एवं समाज की उन्नति न होगी। अतएव जिस राष्ट्र के लोगों में जितनी ही अधिक इच्छाओं की वृद्धि होती है, वह सभ्यता एवं सामाजिक सङ्गठन में उतना ही अधिक प्रगतिशील होता है। इस प्रकार की विचारधारा को हम भौतिक-वाद कहते हैं।

भौतिकवादी लोग इस जीवन के सुख-सन्तोष का ही अधिक ध्यान रखते हैं। इस जीवन के बाद के जीवन का चिन्तन करना अथवा उसकी कल्पना करना व्यर्थ ही नहीं, अपितु मनुष्य के प्रगति के लिए हानिकारक समझा जाता है। मरने के बाद क्या होता है, इस बात का ज्ञान वैज्ञानिक ढङ्ग से किसी को नहीं हो सकता। किन्तु जो कल्पनाएँ जीवन के बाद की बातें जानने की इच्छा से अभिप्रेत होकर की जाती हैं, वे मनुष्य को अन्धविश्वासी बना देती हैं। अनेक प्रकार के धर्मों का आधार मरण के बाद के विषय में चिन्तन करने की मनुष्य की इच्छा है। जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक सोपेनहावर का कथन है कि मृत्यु का विचार ही दर्शन का प्रारम्भ है। भारतीय संस्कृति में भी देखा गया है कि किसी भी गम्भीर दर्शन के प्रारम्भ में वैराग्य-भावना का होना अत्यन्त आवश्यक माना जाता है। नचिकेता ने ब्रह्म-विद्या यमराज से जानी, अर्थात् मनुष्य को गम्भीर दार्शनिक विचार तभी आया, जब मृत्यु की क़ल्पना उसके सामने आ खड़ी हुई।

जो मनुष्य इस जीवन की अनेक क्रियाओं में ऐसे लगे हुए हैं कि उन्हें मृत्यु का विचार कभी आता ही नहीं उन्हें किसी दर्शन की आवश्यकता ही क्या । ऐसे लोगों को किसी धर्म की भी आवश्यकता नहीं होती । मजहब (धर्म) सामान्य लोगों का दर्शन है ।

किसी भी प्रकार की धार्मिक विचार-धारा मनुष्य का कल्याण इच्छाओं की वृद्धि में ही नहीं बल्कि उसकी समाप्ति में देखते हैं । अर्थ (धन-दौलत) की वृद्धि, जो इच्छाओं की वृद्धि का ही परिणाम है, अनर्थ का हेतु है । जो मनुष्य अपनी इच्छाओं पर जितना ही नियन्त्रण रख सकता है, वह उतना ही सुखी होता है । भगवान् बुद्ध, कृष्ण और ईसा, तीनों ने ही इच्छाओं की कमी करने में मनुष्य का कल्याण बताया है । भारतीय संस्कृति के प्रत्येक स्थल में इच्छाओं का विनाश जीवन का उच्चतम उद्देश्य बताया गया है । बुद्ध, कृष्ण और ईसा तीनों एशिया के ही महात्मा थे । अतएव यह कहा जा सकता है कि एशिया का प्रमुख विचार इच्छाओं का त्याग और थोड़े में सन्तोष करने का है ।

इस प्रकार की विचार-धारा का एक परिणाम यह हुआ कि इच्छा-वादी लोगों ने जितनी भौतिक उन्नति की उतना इच्छा-त्यागियों ने नहीं की । इसके परिणाम-स्वरूप इच्छा त्यागी व्यक्तियों को इच्छावादी लोगों के शासन में रहना पड़ा और अपने दर्शन को ही उन्हें फिर बदलना पड़ा । उन्हें ज्ञात हुआ कि हमने अपने दर्शन में कहीं भूल की है । जबतक इन त्यागी लोगों ने भौतिक दर्शन को नहीं अपनाया, वे पाश्चात्य लोगों की दासता से मुक्त नहीं हो सके ।

उपर्युक्त ऐतिहासिक तत्व से यह स्पष्ट होता है कि इच्छाओं का त्याग सर्वथा उपादेय नहीं है । यह बात भी सच है कि इच्छाओं की वृद्धि भी मनुष्य को सुख और शान्ति की ओर नहीं ले जा रही है । आधुनिक युग के बड़े बड़े युद्ध और लोक-संहारी विस्फोटों का आविष्कार इस बात को बतलाता है कि मनुष्य ने यदि अपनी इच्छाओं का नियन्त्रण नहीं किया, तो इस पृथ्वी-पर उसका जीना ही असम्भव हो जाएगा ।

संसार में सभ्य कहलानेवाले राष्ट्रों की जो आधुनिक दार्शनिक विचार-धारा है, किसी तरह भी मनुष्य को चैन नहीं लेने देती । वह मनुष्य को खा डालेगी । अब प्रश्न यह है कि यदि वासनाओं का दमन किया जाय, तो भौतिक-वादियों की दासता स्वीकार करनी पड़ती है और यदि उनकी पूर्ति की जाय तथा उन्हें स्वच्छन्दता-पूर्वक बढ़ने दिया जाए तो समाज का ही विनाश होता है । ऐसी स्थिति में मनुष्य को कौन-सा मार्ग अपनाना चाहिये ।

इस प्रश्न का उत्तर भगवान् बुद्ध ने मध्यम प्रतिपदा (मध्यम मार्ग) के रूप में दिया है अर्थात् वासनाओं का त्याग एकाएक करने से मनुष्य को न तो परलोक मिलता है, और न यह लोक। उसे तो केवल आत्म-ग्लानि और आत्म-भर्त्सना की ताड़नाएँ ही मिलती हैं। वह अपने आपको अभागा मानने लगता है।

भगवान् कृष्ण ने भी अर्जुन को युद्ध छोड़ करके भागने से इसलिए ही रोका था कि इस प्रकार से वासनाओं का निराकरण नहीं होता है। उन्होंने अर्जुन को युद्ध करने की प्रेरणा दी थी। ईशावास्योउपनिषद् में बताया गया है कि जो लोग अविद्या के उपासक हैं, वे घोर अन्धकार में जाते हैं; पर जो केवल विद्या में ही रत हैं और भी अन्धकार में पड़ते हैं; श्रेष्ठ पुरुष वे हैं, जो विद्या और अविद्या दोनों पर विचार करते हैं; जो अविद्या से संसार के क्लेशों से मुक्ति पाते हैं औ विद्या से अमृत-पद प्राप्त करते हैं। अर्थशास्त्र और भौतिक विज्ञान अविद्या है। दर्शन और धर्म विद्या हैं। अर्थशास्त्र और भौतिक विज्ञान की सहायता से मनुष्य इस लोक में शक्तिशाली और सफल बनता है; परन्तु दर्शन और धर्म से उसे परलोक की प्राप्ति होती है।

इच्छाओं के प्रकाशन से अर्थशास्त्र और भौतिक विज्ञान की वृद्धि होती है, और उनके नियंत्रण से दर्शन और धर्म की प्राप्ति होती है। इच्छाओं का अभिव्यंजन मनुष्य के जीवन के लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि उनकी अन्तिम समाप्ति। इच्छाओं की तृप्ति के बिना उनकी समाप्ति नहीं होती।

मनुष्य के जीवन में अनेक प्रकार की इच्छाएँ जन्म से ही रहती हैं। मनुष्य की प्रारम्भिक इच्छाएँ निम्न कोटि की होती हैं। वे उसके व्यक्तिगत जीवन से एवं उसके सुख से ही परिमित रहती हैं। आधुनिक मनोविज्ञान की शिक्षा है कि जबतक मनुष्य की निम्न कोटि की इच्छाओं की तृप्ति नहीं होती, तब तक उसमें उच्चकोटि की इच्छाओं का प्रादुर्भाव नहीं होता, अर्थात् जब तक मनुष्य की वैयक्तिक स्वार्थ की इच्छाओं की तृप्ति नहीं होती, तब तक उसमें समाज-कल्याण तथा परोपकारी भावनाओं का उदय नहीं होता। यदि किसी व्यक्ति में उसकी इच्छाओं का दमन हो जाए और उसे बर-बशी नैतिक एवं परोपकारी बनाया जाय, तो वह अपने जीवन में वास्तविक प्रगति न कर, अवनति ही करेगा। ऐसा व्यक्ति या तो दंभी या पाखण्डी बन जाता है, अथवा मानसिक रोगी हो जाता है। दंभी और पाखण्डी व्यक्ति नैतिकता का आवरण लेकर अपनी स्वार्थमयी इच्छाओं की पूर्ति करता है। ऐसे व्यक्ति को अपनी इन स्वार्थमयी इच्छाओं का ज्ञान तो रहता

है, पर वह उन्हें समाज में बड़े-बड़े आदर्श का प्रचार कर छिपाता है। मानसिक रोगी ऐसे व्यक्ति से भिन्न होता है। मानसिक रोगी का बाह्य जीवन ऊँचे स्तर का होता है, परन्तु उसका आभ्यन्तरिक-जीवन अत्यन्त ही निम्न-स्तर का होता है; और इसका उसे ज्ञान नहीं रहता है।

मान लीजिए किसी व्यक्ति के आन्तरिक मन में समीपस्थ व्यक्ति से व्यभिचार करने की भावना है। इस भावना को उसका नैतिक मन इतना दबा देता है कि उसके प्रयत्न करने पर भी उसे पता नहीं लगता। यदि इस बात का पता स्वयं उस रोगी को लग जाए, तो वह अपनी इस वासना को जानकर अत्यन्त दुखी होगा।

जिन लोगों के जीवन में अत्यधिक नैतिकता दिखाई देती है, उनके आन्तरिक मन में साधारणतया प्रबल भोगवासनाएँ छिपी रहती हैं। जब ये वासनाएँ किसी प्रकार भी अपने प्रकाशन का मार्ग नहीं पातीं, तो वे व्यक्तित्व-विभाजन की स्थिति उत्पन्न कर देती हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य एक ओर बड़ा आदर्शवादी बना रहता है और दूसरी ओर उसमें कार्यक्षमता की शून्यता हो जाती है। अपने ही आदर्शों के अनुसार न चलने के कारण उसे भारी आत्म-भर्त्सना होती है जिससे उसकी इच्छा-शक्ति इतनी दुर्बल हो जाती है कि उसे साधारण-सी परिस्थिति ही परीशान कर देती है। उसमें संकटों का सामना करने का साहस ही नहीं रह जाता है।

इस तरह से हम देखते हैं कि जिन लोगों ने इच्छाओं का दमन करने को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया है उनकी अपेक्षा इच्छाओं की पूर्ति करनेवाले लोगों की इच्छा-शक्ति अधिक बलवती होती है। वे बाह्य कठिनाइयों का सामना अधिक साहस से कर सकते हैं, क्योंकि उनके व्यक्तित्व में वैसा विभाजन नहीं रहता जैसा इच्छाओं के दमन करनेवालों में होता है।

यदि किसी सम्पूर्ण राष्ट्र के लोगों की मनोवृत्ति इच्छाओं को दमन करने की हो, तो उस राष्ट्र में मानसिक एकीकरण का अभाव हो जाता है। ऐसे राष्ट्र की राजनीति शिथिल रहती है। एक छोटा-सा राष्ट्र भी ऐसे साधु राष्ट्र से नहीं डरता। त्यागी राष्ट्र की इस प्रकार की साधुता उसके मन में प्रसन्नता न उत्पन्न कर आत्मभर्त्सना और इच्छा-शक्ति की दुर्बलता को ही बढ़ाती है।

वर्तमान काल में भारतवर्ष ने इच्छाओं के दमन का मार्ग अपना लिया है। इसके परिणामस्वरूप एक ओर इसके आदर्श बड़े ऊँचे हैं और दूसरी ओर उसकी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति दयनीय है। उसके आदर्शों की प्रशंसा सभी करते हैं; परन्तु एक छोटे से छोटा राष्ट्र उसकी राष्ट्रीय भावनाओं को ठुकरा देने में

नहीं हिचकता। इसका कारण यह है कि छोटा राष्ट्र जानता है कि भारतवर्ष के आन्तरिक मनकी जटिलताएँ इतनी गंभीर हैं कि वह कभी दृढ़ निश्चय संसार के किसी छोटे राष्ट्र के विरुद्ध भी नहीं कर सकता।

यूरोप ने जो भूल की है, वह अपनी भोगवासनाओं की छूट दे देने की है। भारत जो भूल कर रहा है, वह अपने अन्तर्मन की वासनाओं को न पहचानने की है। अतएव जहाँ यूरोप उद्दण्ड बालक के समान ध्वंसात्मक कार्यों के लिए प्रवृत्त हो गया है, वहाँ भारत मानसिक रोगी बन रहा है। जीवन की यह पहेली दोनों ने ही हल नहीं की।

जीवनपहेली को हल करना उतना सहज नहीं है। जब तक मानव स्वभाव को तथा उसकी आकांक्षाओं और अन्तिम लक्ष्य को भली प्रकार से नहीं समझा जाता तब तक यह पहेली हल नहीं होगी। इसे हल करने में हमारे पूर्वजों के विचार सहायक हो सकते हैं, परन्तु उनका वर्तमान परिस्थिति में प्रयोग करने के ढंग का आविष्कार हमें ही करना पड़ेगा।

———

विचार की शक्ति

प्रत्येक मनुष्य चैतन्य अणु है। जड़ अणु की शक्ति से हम अभी परचित हुए हैं। इसने जगत को विस्मय में डाल दिया है। चैतन्य अणु की शक्ति इससे भी कहीं अधिक है। इसके द्वारा संसार की नई रचना की जा सकती है और उसका विनाश भी किया जा सकता है। यह चैतन्य अणु हमारा विचार ही है। विचार को देश और काल की सीमा नहीं रहती। एक विचार जो उपनिषद काल में याज्ञवल्क ऋषि ने अपनी स्त्री मैत्रेय को दिया था आज हमें नया प्रकाश दे रहा है। बुद्ध भगवान ने अपने विचार आज से छब्बीस सौ वर्ष पहले अपने कुछ शिष्यों को दिये थे। वे ही विचार आज ६० करोड़ व्यक्तियों के जीवन को संचालित कर रहे हैं। सच्चे विचार का नाश नहीं होता। उसका जितना ही अधिक दमन होता है उसका बल उतना ही बढ़ता है। विचार एक प्रकार की मशाल है। यह मशाल दूसरी मशालों को जला देती है। इस प्रकार संसार भर में एक ही विचार दूर-दूर फैल जाता है। यदि विचार शक्तिवान् है अर्थात् उस विचार के पीछे दृढ़ निश्चय है तो वह विचार अवश्य जीवित रहेगा और यदि उसमें मौलिक शक्ति नहीं है तो कितना ही प्रयत्न उससे बचने का क्यों न किया जाय, नष्ट हो जावेगा।

विचार की शक्ति विचार के लिये तप और त्याग पर निर्भर करती है। जितना ही किसी विचार के लिये तप अथवा त्याग किया जाता है, विचार उतना ही दृढ़ होता है। कार्लमाक्स ने अपने विचार के लिये बीस सालतक अन्वेषण किया तब उसने साम्यवाद का सिद्धान्त संसार के समक्ष रक्खा। इसी प्रकार लूथर ने अपने विचार अनेक प्रकार के त्याग के बाद संसार में फैलाये। जितना ही त्याग उन विचारों के लिये किया जाता था, वे विचार उतने ही पक्के होतें जाते थे। भारतवर्ष की स्वतंत्रता का विचार गंभीर अध्ययन के पश्चात् श्री लोकमान्य तिलक ने प्रकाशित किया और उसके लिये पर्याप्त त्याग किया। यही विचार अनेक प्रकार के दमन के बाद भारत की स्वतंत्रता में परिणत हो गया।

महात्मा गांधी का अहिंसा का विचार एक नया विचार है। जहाँ तक इस विचार के लिये त्याग किया गया वहाँ तक वह जीवित रहेगा, पर जहाँ अहिंसा की शरण अपने आप को कष्ट में डालने से बचाने के लिये की जायगी वह

नष्ट हो जावेगा। जो विचार किसी विशेष परिस्थिति के लिये होता है उसका जीवन उस परिस्थिति तक ही रहता है।

विचार का प्रचार दो रूप से होता है एक प्रकाशित करके और दूसरे अप्रकाशित रूप से। पत्र-पत्रिकाओं में लिखकर, व्याख्यानों द्वारा तथा ग्रन्थ बनाकर किसी भी विचार को प्रकाशित किया जा सकता है। छपाई के साधनों के कारण आज-कल कोई भी नया विचार संसार में बड़े वेग से फैल जाता है। इस प्रकार जितने जल्दी विचार फैलता है उतने जल्दी उसके जीवन का अन्त भी हो जाता है। जो विचार धीरे-धीरे समाज में बैठता है वह प्रायः देर तक ठहरता है। कहा जाता है भलाई केंचुआ की गति से आती और बुराई गरुड़ की गति से। अतएव यदि किसी सद्विचार का प्रचार एकाएक न हो जाय तो हमें उसे व्यर्थ न समझना चाहिये। हमें उसके भविष्य के विषय में इतना ही जानना आवश्यक है कि इस विचार से संसार का कल्याण कहाँ तक है और उस विचार के पीछे त्याग कितना है। जो विचार संसार का कल्याण करता है उसका जीवन काल भी अधिक होता है। चमत्कार दिखाने वाला विचार मनुष्यों को जल्दी से प्रभावित कर देता है, पर वह गंजी की आग के समान तुरंत ही भारी प्रकाश देकर शान्त हो जाता है। ठहरनेवाला विचार अपना प्रभाव एका-एक नहीं दिखाता।

जिस प्रकार विचार प्रचार के भौतिक साधनों के द्वारा संसार के दूसरे लोगों तक पहुँचता है इसी प्रकार वह बिना इन साधनों के भी पहुँचाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में यह विचार मनुष्य की आन्तरिक प्रेरणा का रूप धारण कर लेता है। किसी निराश व्यक्ति के विचारों को एकाग्रचित्त होकर आशावादी बनाया जा सकता है। इसी प्रकार गुमराह को एकाग्र चित होकर सच्चा मार्ग दर्शाया जा सकता है। रोगी मनुष्य के मन में दूर से ही आरोग्य के विचार उत्पन्न किये जा सकते हैं और इन आन्तरिक विचारों के परिणाम स्वरूप उसका रोग नष्ट किया जा सकता है। अनुभव से देखा गया है कि यदि कोई मनुष्य किसी मनुष्य के विषय में रात को उस समय उठकर सोचे जब कि सभी जगत् शान्त रहता और उसे उस समय सद्विचार भेजे तो उक्त व्यक्ति के मन में भी अनुकूल विचार आते हैं। दूसरे के पास कल्याण के विचार भेजने से उस व्यक्ति का कल्याण हो जाता है।

मनुष्य की बीमारी और उसका आरोग्य उसके विचारों पर निर्भर करता है। दूसरे लोग उसके विषय में सोचते हैं वह अपने विषय में भी उसी प्रकार सोचने लगता है। मनुष्य अपना वातावरण अपने

आप उत्पन्न करता है फिर यह वातावरण उसे प्रभावित करने लगता है। साधारणतः रोगी मनुष्य के आन्तरिक विचार भी रोग के ही होते हैं। पर उसके विचारों को बदला जा सकता है। यह तब करना सरल होता है जब रोगी में और हममें हार्दिक एकता है। श्रद्धा के रहने पर एक ओर से दूसरी ओर विचारों का बहाव सरल हो जाता है।

मानसिक उद्विग्नता में विचारों की शक्ति कम हो जाती है। मानसिक उद्विग्नता मानसिक अन्तरद्वन्द्व की स्थिति को दर्शाती है। जब मनुष्य को अपने विचारों की शक्ति में विश्वास नहीं होता तो उसमें मानसिक उद्विग्नता और उतावलापन अधिक रहता है। जो व्यक्ति अपने विचारों के प्रचार करने के लिये जितना उतावला होता है उसके विचारों की शक्ति उतनी ही कम होती है और उनका जीवन काल भी उतना ही कम होता है। यदि कोई विचार मौलिक है तो उसका सबसे अधिक लाभ उसी व्यक्ति को होता है जो उस विचार को जन्म देता है। भला विचार मनुष्य की मानसिक शक्ति को बढ़ाता है और उसे आरोग्य प्रदान करता है, बुरा विचार मनुष्य की शक्ति को घटाता है और उसे रोगी बनाता है। जो प्रभाव किसी विचार का दूसरे व्यक्ति के ऊपर होता है वही प्रभाव हमारे मन के ऊपर भी होता है। दूसरे व्यक्ति के कल्याण का विचार हमारा भी कल्याण करता है और दूसरे व्यक्ति के विनाश का विचार अपना भी विनाश करता है। अतएव भले विचार का वास्तविक मूल्य समझकर उसे प्रकाशित करने के लिए उतावला होना आवश्यक नहीं। जितने दिन भला विचार हमारे मनमें रहता है वह परिपक्व होता है। वह हमारा कल्याण तो करता ही है,वह समय पड़ने पर दूसरे लोगों का भी कल्याण करेगा।

लेखक को कितने ही मानसिक रोगियों के अभद्र विचारों का कारण अध्ययन करने का अवसर मिला। दमा, क्षयरोग, आँख की कमजोरी अथवा आत्महत्या के विचारों के पीछे शत्रु भावना के विचार रहते हैं। जिस प्रकार के विचार मनुष्य किसी दूसरे व्यक्ति के विषय में लाता है वैसे ही विचार अपने आपके ऊपर आरोपित होते हैं। कभी-कभी ये विचार वास्तविक रोगों में भी परिणत हो जाते हैं। मैत्री भावना के अभ्यास से ऐसे कई रोगों का विनाश किया जा सकता है। अपने ही विचार अपने शत्रु होते हैं और अपने ही विचार अपने मित्र होते हैं। जब हम किसी प्रकार के विनाशकारी विचार अथवा घृणा के विचार दूसरे व्यक्ति के प्रति अपने मन में लाते हैं तो अपने प्रति भी वैसे ही विचार हमारे मन में उत्पन्न हो जाते हैं और

फिर, हम उन्हें हटा नहीं सकते। हम यह जानते ही नहीं कि हमारे मन में ऐसे अभद्र विचार क्यों आ रहे हैं। कितने ही व्यक्ति अपने बुरे विचारों से परेशान होकर आत्महत्या कर लेते हैं। सब समय सबका कल्याण सोचते रहना वास्तव में अपने आपका ही कल्याण करना है। जिस प्रकार प्रकाशित भले विचार अपना और दूसरों का कल्याण करते हैं उसी प्रकार अपना और दूसरों का कल्याण अप्रकाशित भले विचार भी करते हैं। अतएव बुद्ध भगवान का आदेश था कि किसी भी अवांछनीय विचार को मन में स्थान न देना चाहिये।

मनुष्य को चाहिये कि वह सदा अपने विचारों को रचनात्मक बनावे, उन्हें ध्वंसात्मक होने से रोके। जो तलवार के बल पर रहता है वह तलवार से मरता भी है। ध्वंसात्मक विचार दूसरे का विनाश करते हैं, पर वे अपना विनाश भी कर डालते हैं। रचनात्मक विचार सहायता के रूप में आते हैं। वे बुराई को अपने आप ही अलग कर देते हैं।

मानसिक दृढ़ता कैसे आती है ?

मानसिक दृढ़ता का आधार सचाई और मैत्री भावना है। ऋषियों का कथन है कि मानसिक दुर्बलता पाप-कृत्य से आती है। पाप वह है जिसे हमें दूसरों से छुपाना पड़ता है। हम अपने विचारों अथवा कृत्यों को दूसरे लोगों से छुपा सकते हैं पर अपने आप से हम उन्हें नहीं छुपा सकते। जब हम कोई अनुचित कार्य करते हैं तो इतना ही ध्यान रखते हैं कि दूसरे लोग उसे न जानने पावें। पर हम तो उसे जानते ही हैं। जब किसी काम को हमारा मन ही अनुचित करता है तो हम अपनी अन्तर भावना को दबा कर अपने आप में ही भेद उत्पन्न कर देते हैं। जो भावना दबाई जाती है वह मन के नीचे चली जाती है। वह मन का आन्तरिक भाग बन जाती है। दबी हुई भावना नष्ट नहीं होती वह सदा क्रियाशील रहती है। इससे हमारे मन में अनेक प्रकार की चिन्तायें और भय उत्पन्न हो जाते हैं। इससे मानसिक अन्तरद्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है और मानसिक शक्ति नष्ट हो जाती है।

जो मनुष्य अपने आपको जितना ऊँचा समझता है उसे अपने आपको धोखा देने के उतने ही अधिक अवसर आते हैं। हमारा सामान्य जीवन चलाने के लिये हमें कई काम ऐसे करने पड़ते हैं जो नैतिक दृष्टि से उच्च कोटि के नहीं कहे जा सकते। पर हम इन कामों को किसी बहाने से कर लेते हैं और उनकी अनैतिकता की ओर आँख मूद लेते हैं। पर इस प्रकार हमारे मन में मानसिक झंझट उत्पन्न हो जाती है। जो कुछ काम किया जाय उसे उचित समझ के किया जाय तभी मानसिक झंझटें उत्पन्न नहीं होतीं।

समाज के हित के लिये झूठ बोलना बुरा नहीं। वही झूठ बोलना बुरा है जहाँ हमारा मन ही उसे बुरा कहता है। हमारे सभी काम एक दिन प्रकाशित हो जाते हैं। समाज-हित के लिये बोला गया झूठ समाज में निन्दनीय नहीं समझा जाता। अतएव इस प्रकार के झूठ से मानसिक कमजोरी नहीं आती। पर जब हम अपने आपको पैसा कमाने अथवा राजनीति में प्रथम स्थान पाने के लिये सत्यवक्ता प्रगट करते हैं तो इस प्रकार के सत्य का कोई महत्त्व नहीं रहता। राजनैतिक अथवा व्यापारिक सत्य चाल मात्र है। इस प्रकार के सत्य और झूठ में कोई मौलिक भेद नहीं। राजनीति या व्यापार में सत्य का अनुसरण करनेवाले व्यक्ति भाषा की सत्यता पर ही ध्यान रखते हैं, अपने हेतुओं की सत्यता पर वे कोई ध्यान नहीं देते। इससे ऐसे लोगों के मन निर्बल हो जाते हैं।

मानसिक दृढ़ता मैत्री भावना के अभ्यास से बढ़ती है। जो मनुष्य दूसरों को दुःख देने की बात नहीं सोचता रहता उसे दूसरे लोगों से भय

नहीं रहता। जो दूसरों के हित का चिन्तन करता है उसे दूसरे लोगों से भी सहायता की आशा रहती है। अतएव उसके मन में निराशाजनक विचार उत्पन्न नहीं होते। आशातीत मनुष्य में ही मानसिक दृढ़ता रहती है, निराशावादी व्यक्ति में मानसिक दृढ़ता का अभाव रहता है। जब मनुष्य हर समय सोचता रहता है कि वह दूसरे लोगों को कैसे ठगे अथवा उन्हें हानि पहुँचावे तो उसके मन में अन्तरद्वन्द्व चलने लगता है। वह चाहे अपने काम में सफल हो अथवा नहीं उसका मन निर्बल हो जाता है। प्रत्येक मानसिक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। जैसा विचार हम दूसरों के विषय में करते हैं वैसे ही विचार दूसरों के व्यवहार के विषय में हमारे मन में आते हैं। जितनी चालबाजी हम उनके साथ करते हैं, उतनी ही चालबाजी की आशा हम उनसे भी रखते हैं। वास्तव में हमारी कल्पनायें ही हमें चैन नहीं लेने देतीं। वे चिन्ताओं का रूप धारण कर लेती हैं और ये चिन्तायें हमारा सारा आध्यात्मिक बल नष्ट कर देती हैं।

मनुष्य की शक्ति का आधार उसकी कल्पना में ही है। जिस प्रकार की कल्पनाएँ प्रति क्षण उसके मन में उठा करता है वैसा ही उसका भविष्य निर्मित होता है। वास्तविक वस्तुस्थिति जैसी भी हो, मनुष्य अपनी कल्पना के आधार पर सुखी अथवा दुःखी रहता है। दूसरे से बदला लेने, उन्हें दुःख पहुँचाने अथवा उनपर प्रभुता रखने की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति की कल्पनायें शुभ नहीं होतीं। उसे अनेक ऐसे विचार आते रहते हैं जिससे उसका उत्साह ही भङ्ग हो जाता है।

मैत्री भावना के अभ्यास करने वाले व्यक्ति को दूसरे लोगों का सामना भी करना पड़ता है। जो लोग समाज का नुकसान पहुँचाने के लिये कटिबद्ध रहते हैं उनका उसे सामना करना पड़ता है। कोई भी व्यक्ति अपने सामाजिक जीवन में सर्वप्रिय रह नहीं सकता। सच्चे-से-सच्चे और भले-से-भले व्यक्ति को समाज का शोषण करनेवाले व्यक्ति झूठा और दुराचारी सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं और उसका विनाश करने का प्रयत्न भी करते हैं। भगवान् बुद्ध का विनाश करने के लिये उन्हीं के चचेरे भाई देवदत्त ने प्रयत्न किया था। कृष्ण के तो हजारों शत्रु थे। इन लोगों को समाज को क्षति पहुँचानेवाले व्यक्तियों से लड़ना पड़ा। यदि किसी व्यक्ति में समाज को नुकसान पहुँचानेवाले लोगों का सामना करने का साहस नहीं है तो उनमें समाज को किसी प्रकार का लाभ पहुँचाने की योग्यता भी नहीं है।

समाज के अनेक स्वार्थी और कायर लोग भले आदमी के नाम से प्रसिद्ध रहते हैं। ये लोग सभी शक्तिशाली लोगों से मित्रता स्थापित करके अपना उल्लू सीधा किया करते हैं। ऐसे लोगों को किसी प्रकार का आत्म-विश्वास नहीं रहता। वे षड़यन्त्र रचकर ही अपना काम साधना चाहते हैं। ऐसे लोगों में मैत्री भावना का अभाव रहता है। वे भले और बुरे दोनों प्रकार के व्यक्तियों से डरा करते हैं इनमें किसी प्रकार की मानसिक दृढ़ता नहीं रहती। मानसिक दृढ़ता अभ्यास से आती है और जिस व्यक्ति को किसी व्यक्ति का सामना करने का अवसर नहीं आता उसे मन दृढ़ बनाने का अभ्यास भी नहीं होता।

मानसिक दृढ़ता का आधार मनुष्य का आन्तरिक हेतु है। जिस व्यक्ति के हेतु शुद्ध होते हैं, उसका आत्मविश्वास बढ़ा हुआ रहता है। अपने हेतुओं के विषय में कभी भी दूसरे लोगों को पूरा ज्ञान नहीं हो सकता। स्वयं हम भी अपने हेतुओं के विषय में अज्ञ रहते हैं। जिस प्रकार हम दूसरे लोगों को अपने आप के विषय में धोखे में रखने की चेष्टा करते हैं हम अपने आपको भी उसी प्रकार धोखे में रखने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार के प्रयत्न से मन सदा दुविधा में बना रहता है और इस मानसिक अन्तरद्वन्द्व की उपस्थिति के कारण मानसिक शक्ति नष्ट हो जाती है। फिर न किसी प्रकार का आत्म-विश्वास मनुष्य को रहता है और न मानसिक दृढ़ता।

जो मनुष्य सदा संकट में रहता है उसे जितनी मानसिक दृढ़ता रहती है आराम से रहनेवाले व्यक्ति अथवा प्रभुताशाली व्यक्तियों के कृपा-पात्र बने रहनेवाले व्यक्ति में नहीं रहती। सङ्कट में पड़ने पर मनुष्य के सिद्धान्तों की और उसके आत्म-विश्वास की परख होती है।

इस प्रकार का आत्म-विश्वास कठिन परिस्थितियों से लड़ाई के बाद ही उत्पन्न होता है। वास्तव में हमारा आन्तरिक मन ही हमारा भाग्य-विधाता है। जिस प्रकार का मनुष्य का निश्चय होता है वह जगत और उनके नियमों को उसी प्रकार देखने लगता है। जब अपने कुचिन्तन से मन निर्बल हो जाता है तो मनुष्य को न किसी ईश्वर से प्रोत्साहन मिलता और न मित्रों से। आत्म-प्रोत्साहन ही सभी प्रकार के प्रोत्साहन का मूल है। जब हमारा मन सच्चा और पक्का रहता है तो प्रतिकूल परिस्थितियों में भी वह अनुकूलता देखता है और जब मन कमजोर हो जाता है तो अपने मित्र ही अपने शत्रु बन जाते हैं।

—:०:—

काम में रुचि क्यों नहीं रहती ?

जब मनुष्य के मन में शक्ति होती है तो उसकी रुचि काम करने में होती है। किसी काम का रोचक होना मनुष्य के आवेगों की सरसता और सहज प्रवाह पर निर्भर करता है। हम जो कुछ सुनते समझते, देखते अथवा करते हैं उसमें हमारी रागात्मक चित्तवृत्तियाँ सम्बद्ध हो जाती हैं। प्रत्येक ज्ञान का रागात्मक पहलू होता है। प्रत्येक क्रिया के पीछे अनुराग अथवा भाव काम करता है। अनुराग ही काम का प्रेरक होता है। मनुष्य के काम का बाहरी हेतु चाहे जो कुछ हो उसका आन्तरिक हेतु अनुराग ही होता है। आन्तरिक हेतु को प्रेरक कहा जाता है। अँग्रेजी में बाहरी हेतु को रीजन अर्थात् कारण कहा जाता है और भीतरी हेतु को प्रेरक (मोटिव) कहा जाता है। यह प्रेरक रागात्मक मनोवृत्ति अर्थात् अनुराग अथवा भाव ही होता है।

मनुष्य का भाव अथवा अनुराग वह तेल है जो क्रियारूपी दिया की लौ को शक्ति देता है। जिस दिये में जितना अधिक तेल रहता है वह उतनी देर तक जलता है। तेल न रहने पर दिया नहीं जलता। इसी प्रकार भाव की शक्ति रहने पर मनुष्य को अपने काम में रुचि होती है जब भाव की शक्ति समाप्त हो जाती है तो काम में रुचि भी नहीं रहती। ज्ञान और क्रिया सभी की जड़ में भाव काम करता है।

मनुष्य के भावों का प्रवाह सुखद होता है। भावों में परस्पर विरोध होने पर मनुष्य का चित्त दुःखमय हो जाता है। भाव अनेक प्रकार के हैं। इन भावों को यदि एकमुखी बना दिया जाय तो मनुष्य अपने जीवन में अलौकिक सफलता प्राप्त करे। जब भाव बहुमुखी अथवा पारस्परिक विरोधी हो जाते हैं तब मनुष्य की मानसिक शक्ति आन्तरिक संघर्ष में ही खर्च हो जाती है और वह किसी काम में रुचि नहीं लगा पाता। जो भी काम वह करता है वह बिना मन के करता है। जिस व्यक्ति के मन में आन्तरिक संघर्ष है वह भीतर से बेचैन रहता है। वह थोड़ा-सा भी काम जब करता है तो थक जाता है। उसे सभी प्रकार के काम अरोचक लगते हैं।

मनुष्य की किसी काम में रुचि उसकी मानसिक शक्ति के संचय पर निर्भर करती है। जिस व्यक्ति की मानसिक शक्ति संचित है वह नये काम को रुचि के साथ कर सकता है और जिस व्यक्ति की मानसिक शक्ति खर्च हो गई है

वह देर तक किसी काम को नहीं कर पाता। वह किसी काम को रोचक नहीं देखता। किसी काम में रुचि न होना मानसिक शक्ति के अभाव का द्योतक है।

जब किसी व्यक्ति को अपने सामान्य कामों में रुचि न होती दिखाई दे तो जानना चाहिये कि उसके मन में आन्तरिक द्वन्द्व चल रहा है और उसकी मानसिक शक्ति उसी द्वन्द्व में खर्च हो रही है। इस आन्तरिक द्वन्द्व का ज्ञान स्वयं उस व्यक्ति को नहीं होता जिसके मन में यह चला करता है। अतएव इसे जानना बड़ी मनोवैज्ञानिक साधना का परिणाम है।

मनुष्य के मन के दो भाग हैं जिनमें संघर्ष चला करता है—एक आदर्शवादी भाग और दूसरा सांस्कृतिक। संघर्ष करनेवाले मन के भाग चेतना के स्तर के नीचे संघर्ष करते हैं। इस प्रकार आदर्शवादी और सांस्कृतिक दोनों ही भाग मनुष्य के अनजाने संघर्ष करते रहते हैं। इस संघर्ष का परिणाममात्र मनुष्य को मानसिक बेचैनी और काम में अरुचि के रूप में ज्ञात होता है।

मनुष्य के मन की अज्ञात क्रियायें उस समय भी चला करती हैं जब ज्ञात क्रियायें कुछ और ही करती रहती हैं। हिस्टीरिया के रोगी में प्रत्यक्षतः यह देखा जा सकता है। हिस्टीरिया के रोगी के मन के विभिन्न भाग अपना-अपना काम स्वतंत्र रूप से करते रहते हैं। जब चेतनमन एक काम में लगा रहता है तब अचेतनमन दूसरे काम में लगा रहता है। यदि किसी प्रकार चेतनमन को अलग कर दिया जाय तो अचेतनमन की क्रियायें अपने आप ही स्पष्ट हो जाती हैं। साधारणतः जब हिस्टीरिया के रोगी का बाहरी मन आन्तरिक संघर्ष के कारण थक जाता है तो अपने आप ही वह अचेतन अवस्था में आ जाता है, और फिर अचेतनमन की आन्तरिक क्रियायें सबके सामने व्यक्त हो जाती हैं। परन्तु ये प्रतीक रूप से ही बाहर आती हैं। अतएव दूसरे लोग इनके वास्तविक अर्थ को नहीं समझ पाते।

अचेतनमन की क्रियाओं को हिस्टीरिया के रोगी को सम्मोहित करके भी जाना जा सकता है। सम्मोहन के द्वारा चेतनमन को अलग किया जा सकता है और फिर अचेतनमन की क्रियायें अपने आप ही व्यक्त हो जाती हैं। ये क्रियायें मनुष्य की जाग्रत अवस्था में उसी प्रकार चलती रहती हैं जिस प्रकार वे सम्मोहित अवस्था में चलती हैं। परन्तु हमें उनका ज्ञान होना संभव नहीं होता। कभी-कभी वे मनुष्य की सांकेतिक चेष्टाओं के द्वारा, उसके बाध्य विचारों के द्वारा व्यक्त होती हैं। कभी-कभी हम उन्हें रोगी के स्वप्नों को जानकर समझ सकते हैं। परन्तु इस कार्य के लिये मनोवैज्ञानिक ज्ञान की आवश्यकता होती है।

जो व्यक्ति उक्त प्रश्न को करता है उसके, मन में अपनी वासना के प्रति घोर संघर्ष चलता रहता है। एक ओर उसकी आदर्शवादिता उसे वासना से दूर रहने के लिये बाध्य करती है और दूसरी ओर उसकी अवस्था उसे उसी ओर ले जाती है। अपने आपसे असंतुष्ट व्यक्ति अपने असंतोष का कारण अपने से बाहर खोजते हैं और वे इस कार्य में सफल भी हो जाते हैं। जिस व्यक्ति की इस प्रकार मानसिक शक्ति खर्च हो जाती है वह किसी काम में मन नहीं लगा पाता।

संयम के अभाव में मनुष्य को किसी कठिन काम में रुचि भी नहीं होती। जो व्यक्ति अपने मन को जिस ओर जावे उसी ओर जाने की छूट दे देते है वे भी बहुत देर तक किसी काम को नहीं कर पाते। मनुष्य का मन अभ्यास का दास है। अभ्यास के अभाव में मनुष्य कोई बड़े काम को अच्छी तरह से नहीं कर पाता। मनुष्य जो कुछ करता है, उसी में उसकी रुचि हो जाती है। जब मनुष्य की रुचि एक काम में हो जाती है तो उसे दूसरा काम करना कठिन हो जाता है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर ध्यान को लगाने से जो मानसिक शक्ति का व्यय होता है वह मनुष्य को किसी कठिन काम को करने के अयोग्य बना देता है। यह मानसिक थकावट का प्राथमिक कारण है।

परन्तु प्रतिभावान व्यक्तियों को जो काम में अरुचि होती है उसका कारण आन्तरिक संघर्ष होता है। इस आन्तरिक संघर्ष को मिटाने पर ही मनुष्य लगन के साथ देर तक किसी काम को कर पाता है।

काम करने की शक्ति कैसे आवे ?

डा० विलियम ब्राऊन का कथन है कि हमारे मन में जितनी शक्ति है उसके बहुत क्षुद्र भाग का ही हम उपयोग कर पाते हैं। हमारी अधिक मानसिक शक्ति आन्तरिक द्वन्द्व में खर्च हो जाती है। मानसिक शक्ति के बढ़ाने के दो उपाय हैं - पहला मानसिक संघर्ष को समाप्त करना और दूसरा अपने भविष्य में तथा अपने आप में विश्वास रखना। मानसिक शक्ति भविष्य के विषय में आशावादी विचार रखने से बढ़ जाती है।

मानसिक संघर्ष का अन्त करना सरल कार्य नहीं है। यह संघर्ष मनुष्य की चेतना की सतह के नीचे होता है। अतएव इसके अन्त करने के प्रयत्न से वह और भी अधिक बढ़ जाता है। मनुष्य जब कोई प्रयत्न करता है तो वह अपना आत्मसात अपने आदर्शवादी स्वत्व से कर लेता है। इससे उसका भोगवादी स्वत्व उसके सामने ही नहीं आता। जिस समय मनुष्य सोचता है कि उसने अपने भीतरी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली क्योंकि वे अब क्षेत्र में दिखाई नहीं देते उस समय ही उसके व्यक्तित्व को भारी खतरा रहता है। ऐसी अवस्था में उसका आन्तरिक मन चीते जैसा व्यवहार करता है। वह सामने से दूर हो जाता है परन्तु पीछे से उस पर आक्रमण करता है। मनुष्य को अपने भीतरी मन को पहचानने के लिए उसके प्रति उदारता का भाव लाना होगा। भोग-वासनाओं का जब तक तिरस्कार किया जावेगा वे मनुष्य के आदर्शवादी स्वत्व के साथ लुका-छिपी का खेल खेलती रहेंगी। वे तभी उसकी चेतना के समक्ष आवेंगी जब वे आदर्शवादी स्वत्व से नहीं डरेंगी, अर्थात् जब मनुष्य का आदर्शवादी स्वत्व उनको जीवन में स्थान देने के लिए तैयार होगा।

जब मनुष्य अपनी पाशविक वृत्तियों को मानस पटल पर आने देता है तब वे वृत्तियाँ उसके व्यक्तित्व की शत्रु न बनकर उसकी मित्र बन जाती हैं। इनकी सहायता से वह अनेक प्रकार के उपयोगी काम कर सकता है। अपने निम्न स्वत्व के प्रति मैत्री भाव रखने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य नैतिकतावादी न बनकर आध्यात्मक बने। नैतिक प्रवृत्ति के व्यक्ति पाशविक वृत्तियों का अपने आप में और दूसरों में कठोरता से दमन करते हैं। इस प्रकार ये प्रवृत्तियाँ इन लोगों के चेतन मन से अलग होकर अचेतन मन में

चली जाती हैं भोग-वासनाओं के दमन से उनका विनाश न होकर वे दुष्ट और चालाक बन जाती हैं। वे फिर मनुष्य का विनाश करने के लिए उद्यत हो जाती हैं

मनुष्य अपनी दमित प्रवृत्तियों में समन्वय दो प्रकार कर सकता है एक अचेतन प्रवृत्तियों को चेतना के स्तर पर लाकर विरोधी प्रवृत्तियों में मेल करने से और दूसरे आत्म-निर्देश द्वारा। अपने मन की बात किसी श्रद्धालु व्यक्ति से कहने से और उससे सभी भूलें स्वीकार कराने से दमित प्रवृत्तियों की शक्ति कम हो जाती । हममें से अनेक व्यक्ति अपनी सामान्य क्रियाओं के प्रति पाप-भावना रखते हैं। पाप-भावना के कारण उन भावनाओं से सम्बन्धित आवेग का दमन होता है और यह आवेग फिर मानसिक विभाजन कर देता है। जब मनुष्य अपनी लज्जाजनक बातों को अपने प्रिय जन के समक्ष कह डालता है तो उसकी पाप-भावना समाप्त हो जाती है। इससे उसकी मानसिक दुर्बलता भी समाप्त हो जाती है। फिर वह अपनी सम्पूर्ण मानसिक शक्ति को अपने काम में ले आता है।

जो लोग बात-बात में आत्मभर्त्सना करते रहते हैं, वे अपने मन को दुर्बल बनाने लगते हैं। कभी-कभी अपनी भर्त्सना का भाव अपने आस पास के लोगों पर आरोपित हो जाता । ऐसे व्यक्ति अपने आपकी आलोचना न करके, दूसरों की आलोचना करने लगते हैं और दूसरों में सुधार की चेष्टा करने लगते हैं। ये लोग कुछ इच्छा-शक्ति का बल अपने आप में प्रदर्शित करते हैं। परन्तु वे आस पास के लोगों को अपना शत्रु बना लेते हैं। ये बाहरी शत्रु वास्तव में अपने ही भीतरी शत्रुओं के आरोपण-मात्र हैं। जो अपने आपका शत्रु है वह अपने से बाहर अनायास शत्रु पैदा कर लेता है। दूसरों के साथ सभी प्रकार की शांति की इच्छा रखते हुए वह अपने चारों ओर शत्रु ही शत्रु देखने लगता है। इनसे लड़ते-लड़ते उनकी सारी मानसिक शक्ति खर्च हो जाती है और फिर उसे संसार में निराशा ही निराशा दिखाई देती है। जो व्यक्ति आत्मसमन्वय प्राप्त कर लेता है उसे बाहर कोई शत्रु नहीं दिखाई देता। उसे बाहरी लोग भी प्यार करते हैं।

आत्म-दमन करनेवाले लोगों की जगत में प्रशंसा होती है। ऐसे लोगों की बात दूसरे लोग मानते हैं। तपवादी व्यक्तियों की अपेक्षा भोगवादी लोगों का समाज में सम्मान न होना स्वाभाविक है। परन्तु तपवाद आत्म-समन्वित नहीं है। अतएव वह भीतरी संघर्ष उत्पन्न कर देता है जो बाहरी संघर्ष में व्यक्त होता है। यदि तपवादी व्यक्ति राष्ट्र का किसी समय नेता बना तो राष्ट्र

का विभाजन ऐसे दो वर्गों से हो जाता है जो एक आदर्शवादी और दूसरा भोगवादी। भोगवादी भाग फिर बड़ी ही दुष्टता से व्यवहार करता है। तपवाद उदारता का द्योतक नहीं। जो व्यक्ति अपने आपके प्रति उदार नहीं वह दूसरों के प्रति उदार कैसे बन सकता है? जिस निष्ठुरता से वह अपने आपका दमन करता है वह दूसरों का भी उसी प्रकार दमन करता है। इस प्रकार वह अपने चारों ओर शत्रु उत्पन्न कर लेता है। इसलिए ही कहा गया है कि नर्क के लिए मार्ग भली कामनाओं से ही बन जाता है।

अमैत्री भावना और कायरता

भगवान बुद्ध ने मैत्री-भावना के ग्यारह फल बताए हैं। जो मनुष्य सर्वत्र मैत्री-भावना का अभ्यास करता है, उसे इन फलों की प्राप्ति होती है। इनमें से बताए बहुत से फल मनोवैज्ञानिक प्रयोग द्वारा प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं। इनमें से एक फल यह भी है, कि मनुष्य सबका प्रिय हो जाता है। मैत्री-भावना के अभ्यास से मनुष्य में निर्भीकता आती है। जिस प्रकार के विचार हम दूसरे व्यक्ति के विषय में अपने मन में लाते हैं, दूसरा भी हमारे प्रति वैसे ही विचारों का पोषण करता है। यदि हम दूसरे व्यक्ति को हानि पहुँचाना चाहते हैं, तो वह भी हमें हानि पहुँचाने की बात सोचता है। इस प्रकार मैत्री-भावना से हमें आत्म-प्रसाद और साहस मिलते हैं; और अमैत्री-भावना के अभ्यास से निराशा तथा भय की उत्पत्ति होती है। मैत्री-भावना मनुष्य के मन को शान्त बनाती है, और अमैत्री-भावना उसे अशान्त बनाती है।

मनुष्य के स्वप्न उसके नित्य-प्रति के अभ्यास पर निर्भर हैं। वह जिस प्रकार के विचारों को लेकर सोता है, उसके स्वप्न भी उसी प्रकार के होते हैं। सोते समय के विचारों का मनुष्य की नींद, स्वप्न तथा स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है। मनुष्य जिस प्रकार के भावों को लेकर सोता है, जागने पर उसी प्रकार के विचार उसके मन में उदित होते हैं।

मैत्री-भावना का अभ्यास करते हुए जो मनुष्य सोता है, उसे सुख की नींद आना स्वाभाविक है। यदि वह स्वप्न देखेगा, तो वह मित्रों का स्वप्न होगा। अमैत्री-भावना का अभ्यास करते हुए सोने से मनुष्य को भयंकर स्वप्न होना भी स्वाभाविक है। वह यदि मनुष्यों का स्वप्न देखेगा, तो स्वप्न में दिखाई पड़ने वाले मनुष्य उसे नाना प्रकार की यातनाएँ देते हैं। जिन लोगों से मनुष्य ईर्ष्या द्वेष करता है अथवा जिन्हें दुःख देना चाहता है; उनसे उसे भी भय रहता है। यह भय तो प्रत्यक्ष होता है, या अप्रत्यक्ष। जब मनुष्य का भय अज्ञात होता है, तो एक ओर तो वह अपनी बहादुरी की लम्बी-चौड़ी डींगें मारता है, और दूसरी ओर अपने आप में उत्साह की कमी पाता है। ऐसा व्यक्ति स्वप्न में अपने आप को अनेकों प्रकार के संकटों में पाता है। कभी वह पहाड़ पर से पटका जाता है, कभी पानी में डुबाया जाता

है, कभी उस पर घातक जानवर आक्रमण करते हैं, तो कभी वह अपने आप को भारी रोग में पड़ा पाता है। उसके इस प्रकार के स्वप्न उसकी अमैत्री-भावना के फलस्वरूप होते हैं।

अमैत्री-भावनाओं का अभ्यास मनुष्य के मन में अनेक प्रकार की अभद्र कल्पनाएँ उत्पन्न करता है। इससे मनुष्य के हृदय में अनेक प्रकार की अकारण चिन्ताएँ और भय उत्पन्न होते हैं। इन चिन्ताओं के कारण मनुष्य की इच्छा-शक्ति निर्बल हो जाती है। जिस मनुष्य के हृदय में जितनी ही सद्भावनायें होती हैं, उसका मन उतना ही शान्त रहता है, और उसकी इच्छा-शक्ति भी उतनी ही दृढ़ होती है। इच्छा-शक्ति का बल मानसिक अन्तर्द्वन्द्व से क्षीण हो जाता है। यह अन्तर्द्वन्द्व ईर्ष्या-द्वेष के विचारों से उत्पन्न होता है। जब मनुष्य की इच्छा-शक्ति का बल घट जाता है, तब किसी काम को हाथ में लेते ही उसके मन में अनेक प्रकार की उत्साह-नाशक कल्पनाएँ उठ जाती हैं। इन कल्पनाओं के कारण उसको अपनी सफलता में विश्वास नहीं होता। जिस मनुष्य को अपनी सफलता में विश्वास नहीं रहता, उसके लिए किसी काम को लगन से करना असम्भव ही है।

अमैत्री भावना के अभ्यास करने वाले व्यक्ति को किसी काम का प्रारम्भ करते ही अनेक प्रकार के अपशकुन हो जाते हैं। ये अशकुन उसके उत्साह को भंग कर देते हैं। जब ब्रूटस और कैशियस मार्क एन्टोनी से लड़ने गए तो उन्हें मार्ग में अनेक प्रकार के अपशकुन दिखाई पड़े। इन अपशकुनों पर उनकी दृष्टि जाती थी, जिससे उनके मन में कायरता के विचार उत्पन्न होते थे। अन्त में उनका अन्त भी आत्म-हत्या के द्वारा हुआ।

जिस मनुष्य को किसी काम के करने के पूर्व अपशकुन होते हैं, उसे हमें स्वार्थी और द्वेषी ही समझना चाहिए। मनुष्य के आन्तरिक विचार जिस प्रकार के होते हैं, बाहर भी उसे उसी प्रकार के दृश्य दिखाई देते हैं। अपनी सफलता के विषय में अधिक चिन्तित रहनेवाले व्यक्ति को अपनी असफलता का भय रहता है। इस भय के कारण उसकी दृष्टि भी ऐसी ही घटनाओं की ओर जाती है, जो अशुभ-सूचक हैं और उसके उत्साह को भंग करती हैं।

मनुष्य के प्रतिक्षण के विचार उसके व्यक्तित्व को बनाते हैं। वीर पुरुष के प्रतिक्षण के विचार आशायुक्त होते हैं, और कायर पुरुष के प्रतिक्षण के विचार निराशा-जनक। वह अपने आप को भारी संकटों में ही घिरा पाता है। जब हम अपने चारों ओर शत्रु-ही-शत्रु पाते हैं, तो हमारा धैर्य्य नष्ट हो

जाता है, और जल्दी में आकर हम कुछ-का-कुछ कर बैठते हैं। जो मनुष्य भविष्य के विषय में जितना ही अधिक सोचता रहता है, वह अपने को उतना ही अधिक संकटों से घिरा पाता है। मनुष्य की कल्पनाएँ वास्तविकता में परिणत हो जाती हैं। अमैत्री भावना की अवस्था में शुभ कल्पनाओं का आना संभव नहीं। ऐसी अवस्था में मनुष्य को आत्म-विश्वास भी नहीं रहता। अतएव सामान्य घटना को भी वह भारी समझकर उससे घबड़ा जाता है। इस प्रकार अपनी सफलता को भी विफलता में परिणत कर देता है।

अमैत्री भावना स्वार्थ-परायणता से उत्पन्न होती है और मैत्री भावना चित्त की उदारता से। स्वार्थी मनुष्य चाहे कितना ही शान्त क्यों न दिखाई दे वह भीतर से सुखी नहीं रहता। उसके मन में अकारण ही अनेक प्रकार के भय उत्पन्न होते रहते हैं। पहिले तो वह समाज के अन्य लोगों को ही अपना शत्रु समझता रहता है। उसे डर रहता है कि कहीं दूसरे लोग उसे धन अथवा अधिकार से वंचित न कर दें। अतः वह अपने कल्पित शत्रुओं के विनाश के लिए अनेक प्रकार के षडयंत्र रचा करता है। पर इस प्रकार के षडयंत्र रचने से उसके मन की अवस्था दयनीय हो जाती है। भयभीत अवस्था में रहनेवाले व्यक्ति को सुख की नींद नहीं आती। भले लोग भी उसे अपने दुश्मन दिखाई देते हैं। वह उनसे सदा सतर्क रहता है, और इस प्रकार वह उन्हें अपना शत्रु बना लेता है।

अमैत्री भावना के विचार मन में रखनेवाले व्यक्ति में अपने शत्रु से युद्ध करने की क्षमता भी नहीं रहती। युद्ध के समय संचालन के लिए शान्त मन की आवश्यकता होती है। वही व्यक्ति युद्ध में विजय पाता है, जो अपने पक्ष की सचाई में पूर्ण विश्वास रखता है। जो व्यक्ति धर्म-बुद्धि से प्रेरित होकर युद्ध करता है, उसमें अपरिमित साहस एवं शौर्य का संचार होता है। कायर मनुष्य कभी-कभी युद्ध से जी इसलिए चुराता है कि वह दूसरे लोगों को क्षमा प्रदान करना चाहता है। वास्तव में स्वार्थ-परायणता एवं उदारता अथवा सच्ची दया एक साथ सम्भव नहीं। डर के कारण जो अहिंसा की जाती है, उसका असर प्रतिपक्षी पर उलटा पड़ता है। प्रेम से प्रेरित अहिंसा ही सच्ची अहिंसा है। प्रेम-विहीन अहिंसा कायरता का आवरण मात्र है। इस प्रकार की अहिंसा राजनीति में प्रयुक्त की जा सकती है, पर आध्यात्मिक उन्नति से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार को अहिंसा से मानसिक दृढ़ता नहीं आती। अपने प्रतिपक्षी की शुभ-कामना करना और उसके दृष्टिकोण को समझने की चेष्टा करना सच्ची अहिंसा है। इस प्रकार की मैत्री भावना का अभ्यास मनुष्य को

शौर्य प्रदान करता है। जिस प्रकार प्रेम और शक्ति का साथ है, उसी प्रकार द्वेष का सम्बन्ध भय तथा कायरता से है।

मनुष्य की कार्यक्षमता उसकी मानसिक-शक्ति पर निर्भर है। यह मानसिक शक्ति तभी प्राप्त हो सकती है, जब मनुष्य को विश्व के अणु-अणु में आत्म-रूपता तथा अपने में विश्व की व्यापकता का बोध हो जाए, अर्थात् जब वह अपने को विश्व में तथा अखिल ब्रह्माण्ड को अपने में देखने लगे।

जिस मनुष्य का अहंकार जितना अधिक होता है; उसके शत्रु भी उतने ही अधिक होते हैं। वह अपनी कल्पना में अनेक प्रकार के शत्रु बना लेता है। ऐसी अवस्था में उसकी मानसिक शक्ति अकारण की चिन्ताओं में ही खर्च हो जाती है। स्वार्थी मनुष्य को स्वयं प्रकृति भी अधिक शक्ति नहीं देती। वह उसे उल्टे विनाश की ओर ही ले जाती है।

———

मानसिक चिकित्सा में प्रेम के भावों की उपयोगिता

मानसिक रोग अपने आप से घृणा के दबे भावों का परिणाम है। जब मनुष्य किसी ऐसे कार्य को कर डालता है; जिसे उसका नैतिक स्वत्व बुरा मानता है तो उसे भारी आत्म-ग्लानि की अनुभूति होती है। अपनी अनैतिक बातों को अथवा अपने अहंभाव को धक्का देनेवाली बातों को कोई भी व्यक्ति दूसरेके सामने कहना नहीं चाहता। अतएव इस प्रकार की आत्म-ग्लानि की शक्ति समाप्त नहीं होती। आत्म-ग्लानिजनक बातें दूसरों के समक्ष कहने से मनुष्य के आत्म-सम्मान को ठेस अवश्य लगती है; परन्तु वह भाव समाप्त हो जाता है।

मनुष्य अपने कुकृत्यों और बुराइयों को न केवल संसार के दूसरे लोगों से छिपाता है वरन् वह स्वयं से भी छिपाता है। वह ऐसी सभी बातों को भूल जाना चाहता है जिनका स्मरण उसे अप्रिय लगता है अथवा आत्म-ग्लानि उत्पन्न करता है। परन्तु इस प्रकार अप्रिय घटनाओं को भुलाने से उनसे सम्बन्धित आवेग की समाप्ति नहीं होती, वरन् उसकी शक्ति और भी बढ़ जाती है। यह शक्ति तब तक समाप्त नहीं होती जब तक वह किसी न किसी रूप में मनुष्य की चेतना के समक्ष न आवे। परन्तु जिस समय भी और जिस रूप में यह चेतना के समक्ष आवेगी, वह अप्रिय बनकर ही आवेगी। दबी अप्रिय भावना, भयावने स्वप्न, निन्दनीय आदत, झक तथा किसी प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग के रूप में वह चेतना के स्तर पर आती है। रोग केवल दबी वासना के प्रतीक होते हैं। यदि किसी व्यक्ति ने अपने हाथ निंद्य (घृणास्पद) कार्य किया तो उसका हाथ अकारण ही कांपने लगता है। परीक्षा के समय इस प्रकार का रोग अचानक आ जाता है। निन्द्य रूप से वीर्यपात करनेवाले लोगों को सफेद कुष्ठ, एक्जमा आदि चर्म रोग हो जाते हैं, अथवा इनको अकारण ही भय हो जाता है। अपने समीप के सम्बन्धी से व्यभिचार की भावना मनमें आने से मनुष्य को नपुंसकता का अकारण भय उत्पन्न हो जाता है। रोग उसी अंग से सम्बन्धित रहता है जिसका दुरुपयोग किया जाता है।

किसी भी ग्लानिजनित भाव की समाप्ति उसके चेतन स्तर पर आने, और उस पर विचार करने, तथा उसके लिये प्रायश्चित्त करने से हो जाती है।

परन्तु दबी भावना को चेतना के स्तर पर लाना सरल कार्य नहीं है। डाक्टर फ्रायड ने भी भावना को चेतना के स्तर पर लाने के लिए एक विज्ञान ही खड़ा कर दिया है। इस विज्ञान का नाम मनो-विश्लेषण विज्ञान है। जिस प्रकार राष्ट्र के अपराधी लोगों को खोजने और पकड़ने के लिए राष्ट्र की सरकार खुफिया पुलिस से काम लेती है, उसी प्रकार मनो-विश्लेषक अनेक प्रकार के विशेष ज्ञान से दबी भावना का पता चलाता है और उसे चेतना के स्तर पर लाने की चेष्टा करता है। परन्तु दबी वासना को खोजने में जितना कुशल मनोवैज्ञानिक बनता जाता है, दबी भावना भी अपने को छिपाने में उतनी ही कुशल बनती जाती है। अतएव मनोवैज्ञानिक और मानसिक रोगी के बीच लुका-छिपी का खेल प्रारम्भ हो जाता है। रोगी के आन्तरिक मन का सुधार तभी हो सकता है जब कि उसका आन्तरिक मन स्वयं अपना सुधार चाहे। यदि दबी भावना को मनोविश्लेषक ने पहचान भी लिया तब भी रोगी का सुधार नहीं होता। किसी व्यक्ति का सुधार आत्म-स्वीकृति और आत्म-शिक्षा के बिना नहीं होता। मनो-विश्लेषक से रोगी उसी प्रकार डरने लगता है जिस प्रकार खुफिया पुलिस से अपराधी डरता है।

दबे भाव को चेतना के स्तर पर लाने के लिए यह आवश्यक है कि किसी के मन में विश्वास उत्पन्न हो कि वह किसी प्रकार की आत्म-स्वीकृति कर लेने पर चिकित्सक का स्नेह नहीं खोवेगा। परन्तु जिस चिकित्सक ने प्रारम्भ से ही स्नेह नहीं दिया, अर्थात् जो चिकित्सक पैसे के लिए रोगी की चिकित्सा करता है उसके स्नेह रहने अथवा खोने की रोगी को परवाह ही क्या? मानसिक रोग की अवस्था में मनुष्य का नैतिक स्वत्व उसके भोगमय स्वत्व की भर्त्सना करता है। जब तक दोनों में समन्वय स्थापित नहीं होता, चिकित्सक केवल माध्यम का कार्य करता है। एक ओर उसका नैतिक स्वत्व का प्रतीक होना आवश्यक है और दूसरी ओर उसका रोगी को उसकी कमजोरी मानकर भी स्वीकार करना। जो व्यक्ति केवल रोगी की कमजोरी जानता है और जिसे उसकी नैतिक बुद्धि और खूबियों से मतलब नहीं, वह रोगी को अच्छा नहीं कर सकता। रोगी को अच्छा करने के लिए रोगी के उन गुणों को जानना आवश्यक है जिनके कारण वह लोकप्रियता का पात्र है। इन गुणों पर ध्यान देने से रोगी के प्रति चिकित्सक का प्रेम पैदा होगा। प्रेम रोगी के मन में विश्वास उत्पन्न करता है कि चिकित्सक उसका कल्याण करेगा। यह विश्वास ही उससे आत्म-स्वीकृति कराता है। दबे भावों की आत्म-स्वीकृति मानसिक खिंचाव को हटा देती है और रोग नष्ट हो जाता है।

प्रत्येक मनुष्य के अचेतन मन में अनेक प्रकार की नैतिक मान्यतायें हैं। इन मान्यताओं का मूल्य वर्तमान समय में कुछ भी न हो परन्तु बचपन में उनका मूल्य बहुत भारी था। ये मान्यता में मनुष्य की उन भावनाओं को दबाये रहती हैं जो इनके विरुद्ध रहती हैं। रोगी मनुष्य को न तो उसकी दबी भावनाओं का ही ज्ञान रहता है और न दबानेवाली मान्यताओं का। अतएव वह अपने रोग का कारण नहीं जानता और दूसरे लोग भी उसके रोग को अकारण ही मानते हैं। मानसिक उलझन के समाप्त होने के लिये एक ओर उन मान्यताओं का ज्ञान होना आवश्यक है जो चेतना के स्तर के नीचे काम कर रही हैं और दूसरी ओर दबे भावों का। बहुत से रोग दबी भावनाओं और प्राचीन समय की मान्यताओं के स्मरण होते ही समाप्त हो जाते हैं। इसका प्रधान कारण दबानेवाली मान्यताओं का वर्तमान काल में निरर्थक होना ही है। परन्तु कुछ मान्यतायें वर्तमान काल में भी अर्थ रखती हैं। यदि ऐसी मान्यता के प्रतिकूल कोई दबा भाव हुआ तो उसकी शक्ति को चेतना के स्तर पर लाकर सन्मार्ग में लगाना आवश्यक होता है।

मान लीजिये किसी व्यक्ति के अचेतन मनमें समलिंगी प्रेम की प्रबलता है। इसी प्रेम के कारण अनेक प्रकार की व्यभिचार-जन्य आत्म-ग्लानि उसके मन में उत्पन्न हो गई है जो सामान्य नैतिक बुद्धि द्वारा अचेतन मन में दबी पड़ी है। अब इन अचेतन भावनाओं को चेतना के स्तर पर लाया जाय तो रोगी को अब भी भारी आत्म-ग्लानि होगी। इस प्रकार दबी वासना का फिर से दमन हो जावेगा। इस दमन से रोग जैसा का तैसा फिर हो जावेगा। ऐसी अवस्था में आवश्यक है कि समलिंगी-प्रेम की भावना को सुमार्ग पर लगाया जावे। यह किसी प्रकार की धार्मिक उपासना अथवा कलामय रचनाओं से हो जाता है। रसखान का समलिंगी प्रेम कृष्ण की उपासना बन गया। इसी प्रकार यूनानी कलाकारों के समलिंगी प्रेम ने नग्न प्रतिमाओं के निर्माण का रूप ले लिया। इस प्रकार दबी हुई अनैतिक भावना की शक्ति रचनात्मक कार्य में काम आ गई।

दबी मानसिक भावना को रचनात्मक कार्य में लगाना प्रेम के वातावरण में सरल हो जाता है। रोगी अपने हितैषी से न केवल अपने मनकी सभी बुरी बातों के कहने के लिये उतावला रहता है, वरन् अपने कल्याण का मार्ग भी मानने के लिये वह इच्छुक रहता है। वह अपने कल्याण-कर्ता का अनुकरण भी प्रेम-वश करने लगता है। इस प्रकार भी उसके मनके विभिन्न भावों में समन्वय स्थापित हो जाता है। जब रोगी स्वयं प्रेम की भावना का अभ्यास दूसरे व्यक्तियों के प्रति करता है तो उसका आत्म-समन्वय प्राप्त करना सरल

हो जाता है। हम जब दूसरे लोगों को प्यार करते हैं तो उनके दोषों को मानकर भी क्षमा कर देते हैं। फिर जिस प्रकार हम दूसरों को उनके दोषों के लिये क्षमा करते हैं उसी प्रकार हमारा मन भी हमें अपने दोषों के लिये क्षमा कर देता है। उदारता के भाव न केवल दूसरे को लाभ पहुँचाते हैं वरन् वे स्वयं को भी लाभ पहुँचाते हैं। हम अपने आचरण को उदार बनाकर आसपास के सभी लोगों को उदार बना देते हैं। उदारता प्रौढ़ता लाती है। इसके कारण भी दूसरे लोग हमारा अनुकरण करते हैं। अतएव यदि चिकित्सक उदार है तो वह अपने रोगियों को अपने आचरण और विचार द्वारा सरलता से उदार बना देता है। यही उसकी मानसिक चिकित्सा है। दूसरों के प्रति उदार व्यक्ति अपने प्रति उदार होता है और दूसरों के प्रति क्रूर व्यक्ति अपने प्रति भी क्रूर होता है। इसी प्रकार अपनी ही आन्तरिक क्रूरता और उदारता दूसरों के प्रति हमारे व्यवहार में प्रकाशित होती है।

———

भले कामों का मनोवैज्ञानिक फल

भले काम का मनोवैज्ञानिक फल मनुष्य को हतोत्साह होने से बचाता है। प्रत्येक मनुष्य को जीवन में सफलता और विफलता मिलती रहती है जब मनुष्य को सफलता मिलता है तो उसका आत्म-विश्वास बढ़ जाता है, जब उसे विफलता मिलती है तो आत्म-विश्वास कम हो जाता है। जो व्यक्ति अपने सभी कामों का उद्देश्य समाज सेवा रखता है वह इस प्रकार की सफलता अथवा विफलता से उद्विग्न मन नहीं होता। उसकी शक्ति व्यर्थ को निराशावादी कल्पनाओं में खर्च नहीं होती। किसी प्रकार की विफलता होने पर जब मनुष्य निराश हो जाता है तो वह ऐसी बातों को भी सोचने लगता है जो अभी घटी नहीं है। निराशा के प्रवाह में पड़ जाने पर मनुष्य अपनी बहुत-सी हानि व्यर्थ ही कर डालता है।

स्वार्थ बुद्धि से प्रेरित होकर किया गया काम मनुष्य को कभी न कभी निराश करता है। जिस मनुष्य की परोपकार करने की आदत रहती है उसे जल्दी से निराशा नहीं आती। निराशा के समय मनुष्य का पुण्य उसके काम आता है। पुण्य कर्म उसे निराशा में पड़ने से बचा लेते हैं। मनुष्य को जीवन देनेवाली वस्तु आशा ही है। निराश हो जाने पर मनुष्य प्राणहीन जैसा हो जाता है।

भला काम मनुष्य को प्रारम्भ से ही लम्बी-लम्बी इच्छाओं को बनाने से रोकता है। जिस मनुष्य की स्वयं की लम्बी इच्छाएँ नहीं रहती वह पहले से अपने आपको मानो निराश के समान बनाये रहता है। ऐसे व्यक्ति को दूसरे प्रकार की निराशानिराश नहीं करती। सदा भला काम करने से मनुष्य में एक प्रकार की आत्म-नियन्त्रण की शक्ति आ जाती है। भले काम करनेवाले को संतोषी बनना पड़ता है। यह संतोष का अभ्यास ही मनुष्य को आत्म-नियन्त्रण की शक्ति देता है। जिसे आत्म-नियन्त्रण की शक्ति है वह देर तक किसी प्रकार के नुकसान पर विचार नहीं करता। वह अपने विचार शीघ्र ही रचनात्मक बना लेता है।

संसार में वही मनुष्य प्रगतिशील होता है जो पुरानी विफलताओं से कुछ सबक लेकर आगे बढ़ता रहता है। पुरानी विफलता पर चिन्तन करते रहने से मनुष्य की इच्छा-शक्ति निर्बल हो जाती है। इसके लिए आवश्यक है कि मनुष्य न अपनी सफलता के लिए दूसरे लोगों से बहुत प्रशंसा पाने की चेष्टा

न करे और न असफल होने पर बहुत सम्वेदनाओं को सुने। यद अपने जीवन में कोई भूल है तो उसे सुधार लेना-मात्र हमारा कर्तव्य है।

भले काम मनुष्य को अपना धैर्य नहीं खोने देते। जब मनुष्य अपना धैर्य नहीं खोता तो वह अपनी हानि को लाभ में परिणत करने में सफल होता हैं। यदि हानि हानि ही रही तो भी वह उतनी कठोर नहीं होती जैसी धैर्य खो जाने पर हो जाती है। मनुष्य अपनी कल्पना से ही अपनी छोटी-सी हानि को भी बहुत भारी बना देता है।

प्रत्येक भला काम संचित द्रव्य के समान है। यह द्रव्य इच्छा-शक्ति के बल के रूप में संचित रहता है। प्रत्येक भले काम से मनुष्य की इच्छा-शक्ति बली होती है और प्रत्येक बुरे काम से वह निर्बल हो जाती है दुर्बल इच्छा-शक्ति ही मनुष्य का जीवन नर्क बना देती है और बलवान इच्छा-शक्ति का बल भले काम से बढ़ता है। प्रत्येक भले काम के लिए मनुष्य को मन को रोकना पड़ता है--उसे तप और लाभ का अभ्यास करना पड़ता है। ये ही मनुष्य की इच्छा-शक्ति को बली बनाते हैं।

इमरसन महाशय का कथन है कि कवि, दार्शनिक और संत के लिए सभी बातें अनुकूल और दैवी हैं, सभी घटना में लाभदायक, सभी दिन भले और सभी मनुष्य देव तुल्य हैं। इस प्रकार का विश्वास उसी व्यक्ति को होता है जिसके जीवन का उद्देश्य मानव समाज का अथवा प्राणिमात्र का कल्याण करता है। हम जब किसी हानि के समीपस्थ परिणाम को देखें तो वे बड़े भीषण दिखाई देते हैं, परन्तु उसी के दूरस्थ परिणाम को यदि हम देखें तो वे लाभ में ही परिणत होते दिखाई देते हैं। नादान बुद्धि के लोग समीपस्थ परिणाम से ही अपना धैर्य खो देते हैं। इसी कारण वे अधिक हानि उठाते हैं।

मनुष्य की मौलिक लाभ और हानि उसके मन के भीतर ही है। अपने मन को वश कर सकना, यही सबसे कठिन पुरुषार्थ है। यह तभी संभव होता है जब मनुष्य अपने जीवन को कठोर और लाभमय बनाता है। दूसरों की सहायता करने का यही परिणाम है कि आपत्तियों के सिर पर पड़ जाने पर हमारा अन्तःकरण हमारी सहायता करता है। इससे आपत्तियाँ चली नहीं जातीं, परन्तु मनुष्य में उन्हें सहन करने की शक्ति आ जाती है।

मानसिक शक्ति का व्यय और अवरोध

नवीन मनोविज्ञान के अनुसार अनुष्य की मुख्य मानसिक शक्ति काम शक्ति है। यह शक्ति हमारे मन में प्रति दिन तैयार होती है। इसके खर्च के तीन मार्ग हैं – विषय भोग, कर्म और ज्ञान। साधारणतः प्रत्येक मनुष्य की कुछ शक्ति विषय भोग में खर्च होती, कुछ कर्म में खर्च होती और कुछ ज्ञान में। भारतीय दर्शनों में मूल प्रकृति को त्रैगुणात्मक माना गया है। तम, रज और सत के मिश्रण से संसार का निर्माण हुआ है। भोग, कर्म और ज्ञान, उक्त तीनों गुणों के क्रमशः प्रकाशित रूप हैं। साधारणतः हमारी अधिक शक्ति भोग में प्रकाशित होती है जो बचती है वह कर्म में प्रकाशित होती है और ज्ञान के लिए बहुत थोड़े ही शक्ति बच जाती है। भोगासक्त मनुष्य कर्म और ज्ञान में लगता है पर उसके कर्म और ज्ञान का लक्ष्य भोग्य पदार्थ प्राप्त करना होता। इसी प्रकार कर्मासक्त और ज्ञानासक्त व्यक्ति भी अन्य दो प्रकार के व्यवसायों में लगते हैं पर वे उनके प्रधान लक्ष्य नहीं होते।

जब मनुष्य की भोगवासनाओं का दमन होता है तो उसके दो परिणाम होते हैं एक अवरोध आर दूसरे शोध। भोग वासना की शोध की अवस्था में मानसिक शक्ति मनुष्य की कार्यशीलता आर उसके ज्ञान को बढ़ाती है, पर उसकी अवरोध की अवस्थाओं में वह मानसिक रोग का कारण बन जाती है। इससे मनुष्य को अनिद्रा, बेचैनी, चञ्चलता, चिन्ता, भय और अनेक प्रकार के शारीरक रोग उत्पन्न होते हैं। अवरुद्ध वासना अपने प्रकाशन का कोई छिपा मार्ग निकालती है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि हमारी सम्पूर्ण मानसिक शक्ति का शोध करना सम्भव नहीं। अतएव मनुष्य के मन की साम्यावस्था उसी समय होती है जब उसके जीवन में भोग, कर्म और ज्ञान का साम्य होता है।

स्वभावतः मनुष्य के जीवन के प्रथम काल में भोग की प्रधानता होती है, द्वितीय काल में कर्म की और तृतीय काल में ज्ञान की। तीस वर्ष तक मन भोगासक्त रहता है, पचास वर्ष तक कर्मासक्त और इसके बाद आत्म-ज्ञान की प्रबल इच्छा होती है। पर जब किसी मनुष्य का मानसिक विकास उचित रूप से नहीं होता तो पचास वर्ष की आयु के बाद भी उसे भोगेच्छा अथवा कर्म करने की प्रबल इच्छा बनी रहती है। जिन व्यक्तियों की भोगेच्छा का

अवरोध यकायक हो जाता है उनकी भोगेच्छा उन्हें बुढ़ापे में भी त्रास देती है। वह उन्हें सदा बेचैन बनाये रहती है। जो व्यक्ति किसी प्रकार के उद्वेग के कारण भोगों को छोड़कर कर्म में लग जाते हैं वे आत्म-ज्ञान की ओर नहीं बढ़ते। वे मरणपर्यन्त कर्म-संसार में ही विचरण करते रहते है। उनकी पुरानी अनुभूतियाँ मानसिक ग्रन्थियों का रूप धारण कर लेती है। ये ग्रन्थियाँ मनुष्य के मानसिक विकास में रुकावट का कारण बन जाती है।

मानसिक शक्ति के शोध का परिणाम ज्ञान है। पर जब तक मानसिक शक्ति का अवरोध रहता है तब तक उसका शोध सम्भव नहीं। मानसिक ग्रन्थियों के खुलने पर ही मानसिक शक्ति का शोध सम्भव है। इसके लिए मनुष्य को अपने आप को समझना और स्वीकार करना आवश्यक है। अपने आप को जानने और स्वीकार करने से ही मानसिक शक्ति का अवरोध नष्ट हो जाता है। इसके लिए मनुष्य को विषय भोग में लगना आवश्यक नहीं होता। मनुष्य को अपना आचरण अपनी परिस्थिति के अनुसार ही बनाना पड़ता है। आचरण में परिवर्तन किये बिना मानसिक ग्रन्थि का निराकरण किया जा सकता है। कभी-कभी आचरण में परिवर्तन नई मानसिक व्याधियों को उत्पन्न कर देता है।

कितने ही ब्रह्मचारी साधु लोग एक स्थान पर देर तक नहीं ठहर पाते। कितने ही सदाचारी व्यक्ति बात-बात में क्रुद्ध हो जाते अथवा बच्चों जैसे रूठ जाते हैं। एक ओर उनकी कार्य-क्षमता और त्याग पर संसार के लोग दंग रहते हैं और दूसरी ओर वे अपने ही स्वभाव से परेशान रहते हैं। एक जगह न ठहर सकने के कारण वे किसी काम को लगन के साथ नहीं कर पाते। कोई-कोई लोग सदा किसी विलक्षण काम की खोज में रहते हैं। उनका मन साधारण काम में नहीं लगता। जिस काम को सभी लोग करने लगते हैं वे उसे छोड़ देते हैं। इस प्रकार की मानसिक परिस्थिति का कारण उनके मन में मानसिक ग्रन्थियों की उपस्थिति है। ये मानसिक ग्रन्थियाँ उन्हें सदा चञ्चल बनाये रखती हैं और अपने आपको विलक्षण व्यक्ति सिद्ध करने के लिए बाध्य करती है। जब तक परिस्थिति अनुकूल रहती है तब तक ऐसे व्यक्ति बहुत कुछ विलक्षण कार्य कर दिखाते हैं। पर जब परिस्थितियाँ प्रतिकूल हो जाती है तो उनकी मानसिक शक्ति विनाशात्मक मार्ग ले लेती है।

परमात्मा की मनोवैज्ञानिक सत्ता

आधुनिक काल के कुछ मनोविज्ञानिकों का कथन है कि ईश्वर, देवी-देवता और पुनर्जन्म का कोई वैज्ञानिक प्रमाण खोजना कठिन है, परन्तु मनोविज्ञान की दृष्टि से यह आवश्यक है। संसार के सबसे बड़े मनोवैज्ञानिक चार्ल्स युङ्ग का कथन है कि कोई भी मानसिक रोगी तब तक पूर्ण स्वस्थ नहीं होता जब तक वह जगत के निश्चित विधान अथवा धर्म में विश्वास नहीं कर लेता और जिस व्यक्ति के धार्मिक विश्वास दृढ़ हैं वह मानसिक रोगी नहीं होता। इसकी जगह उन्होंने कहा है कि जो लोग मरने के बाद के जीवन में विश्वास करते हैं उन्हें सामान्य मानसिक रोग नहीं होते, यदि ऐसे लोगों को मानसिक रोग हो जावें तो अगले जन्म में विश्वास न करनेवाले लोगों की अपेक्षा उन्हें जल्दी से अच्छा किया जा सकता है।

डाक्टर फ्रायड स्वयं धर्म को एक भ्रम मात्र मानते थे और उन्होंने अपनी "फ्यूचर आफ एन इलूजन" नामक पुस्तक में बताया है कि रिलिजन (धर्म) का भ्रम विज्ञान के अलोक के बढ़ने पर समाप्त हो जावेगा। यदि धर्म एक भ्रम मात्र है, अर्थात् अन्धविश्वास पर निर्भर है, तो उसका समाप्त होना ही अच्छा होगा। परन्तु क्या इस विश्वास के समाप्त होने पर मनुष्य का कल्याण होगा ? इस सम्बन्ध में डा० युङ्ग ने बताया कि जब मनुष्य किसी अलौकिक सत्ता को संसार के विलक्षण कार्य करनेवाला नहीं मानता तबतक मनुष्य जो कुछ काम करता है वह उसका श्रेय अपने आप ही ले लेता है। इस प्रकार मनुष्य का अभिमान (ईगो) इतना बढ़ जाता है कि उसका सम्हालना कठिन हो जाता है। मनुष्य की बढ़ी चढ़ी ईगो उसके जीवन को असन्तुलित कर देती है। फिर उसमें अपने आप विरोध उत्पन्न होकर मनुष्य दयनीय अवस्था में आ जाता है। अत्यधिक बढ़ी ईगो (अभिमान) पागलपन की पूर्वावस्था है। यह स्वयं ही एक पागलपन है। मनुष्य जब अभिमान को ही जीवन की सर्वोच्च सत्ता मान लेता है तो वह ऐसे दर्शन का (अथवा कार्य का) निर्माण करता है जिससे उसका समाज से विरोध हो तथा समाज में अनेक प्रकार की कलह उत्पन्न हों। वह अपने दर्शन की असफलता स्वयं देखता है और उसका अन्तिम जीवन निराशा में व्यतीत होता है। डा० फ्रायड का जीवन दर्शन निराशावादी बन गया था। अलेक्जेंडर, नेपोलियन और हिटलर निराश युक्त होकर मरे। अत्यन्त सम्मान प्राप्ति की चेष्टा दुःख मूलक होती है। मनुष्य का मानसिक खिंचाव तबतक कम

नहीं होगा जबतक वह अपने अभिमान को अपने से बड़ी सत्ता के प्रति अर्पित करना नहीं सीखता।

परन्तु हम जिस सत्ता को अपने स्वत्व को अर्पित करते हैं उसके अस्तित्व में विश्वास होना आवश्यक है। जिस पदार्थ के कहने मात्र में हमें सन्देह है उस पर हमारी भावनायें, आशा में तथा सर्वोच्च चेष्टा में कैसे आधारित की जा सकती हैं। डा० चार्ल्स युङ्ग के मत की सबसे बड़ी आलोचना यही है कि वे धर्म की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता को तो बताते हैं परन्तु जिस तत्व की चर्चा धर्म करता है उसके अस्तित्व के विषय में अपना निश्चयात्मक मत नहीं देते। वास्तव में यह मत वैज्ञानिक विधि से दिया भी नहीं जा सकता। चार्ल्स युङ्ग ने यह बताया है कि भूत-प्रेत तथा देवी-देवता मनुष्य के शुभ-अशुभ भावों के आरोपण मात्र हैं। इसी प्रकार भगवान की खोज अपने व्यक्तित्व से बाहर करना वैज्ञानिक भूल है।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि जिस तत्व की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता हम जानते हैं, परन्तु जिसे वैज्ञानिक ढंग से हम सिद्ध नहीं कर सकते वह है ही नहीं। डिकार्ट ने कहा था कि हमें पूर्णता का विचार आता है। परन्तु यह पूर्णता हम अपने में नहीं देखते, अतएव यह कहीं बाहर होगा। यही परमात्मा के अस्तित्व का साबूत है। वास्तव में यह गलत विचार था। जिस बात को हम अपनी बुद्धि से नहीं जान सकते कि हममें है उसका अस्तित्व हममें हो सकता है। उसे पहिचानने के लिये नये प्रकार की रीति अपनाई जाती है। इसे (प्रज्ञान) इन्टूशन कहा जाता है।

परमात्मा का अस्तित्व न तो विज्ञान से और न मनोविज्ञान से सिद्ध किया जा सकता है। मनोविज्ञान ऐसे विश्वास की आवश्यकता दर्शाता है। इसके अस्तित्व के लिये अपरोक्ष अनुभूति आवश्यक है। फिर यह अनुभूति मनोविज्ञान की क्रियाओं का आधार बन जाती है। मनुष्य की निश्चयात्ममति बौद्धिक व्यापार का परिणाम नहीं है। यह मन की क्रियाओं के बंद होने का परिणाम है। यहाँ मनुष्य को योग की आवश्यकता होती है। चिन्तन हमारा परिचय चंचल जगत और चंचल मन की क्रियाओं से कराता है। योग स्थिरतत्व पर मनको दृढ़ करता है। इसके अस्तित्व में विश्वास के बिना मनुष्य बौद्धिक स्थिरता नहीं पाता। यही परमात्मा की सत्ताका मनोवैज्ञानिक प्रमाण है।

'मनोविज्ञान' रजिस्टर्ड नं० ए० ६०५

अनुक्रम सं० ....

श्रीमान् बनारसी लाल पु० जग...
मो० प्रतापगढ़ ...
Jammu Kashmir